दीपक प्रकाश त्यागी

हिन्दी दलित कविता : प्रतिरोध की संस्कृति एवं बदलाव की प्रतिबद्धता

हमने अपनी उँगलियों के किनारों पर
दुःस्वप्न की आँच को
असंख्य बार सहा है
ताजा चुभी फाँस की तरह
और,
अपने ही घरों में
संकीर्ण पतली गलियों में
कुनमुनाती गन्दगी से
टखनों तक सने पाँव में
सुना है
दहाड़ती आवाजों को
किसी चीख की मानिंद
जो हमारे हृदय से
मस्तिक तक का सफर तय करने में
थक कर सो गई है

दोस्तों,
इस चीख को जगाकर पूछो
कि अभी और कितने दिन
इसी तरह गुमसुम रह कर
सदियों का संताप सहना है!

(सदियों का संताप, प्रतिनिधि कविताएँ : ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ० 31)

हिन्दी की दलित कविता का इतिहास बहुत विस्तृत नहीं है, जमीन भी अत्यन्त सख्त है, भूगोल भी विस्तार के रास्ते पर है, किन्तु दलित कविता ने नया सौन्दर्यशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र निर्मित करने की चुनौती पेश की है, इस चुनौती में इतनी तेज धार है कि कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति टिक नहीं सकती। कविता यहाँ सामाजिक-सांस्कृतिक अर्थ भी है तो अपने वजूद के लिए संघर्ष भी, अस्मिता के लिए संघर्ष भी। ये कविताएँ सदियों की वेदना को उद्घाटित करने वाली ऐसी कविताएँ हैं, जहाँ इतिहास का विरोध, विवेकबोध है, असहमति का जरूरी साहस है, विद्रोह की ज्वाला के साथ ही रचना की ऐसी जमीन है, जो बहुत सख्त है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की अभिव्यक्ति है -

कभी नहीं माँगी कालिख भर जगह/नहीं माँगा उनके राज को
माँगा है सिर्फ न्याय/जीने का हक/थोड़ा सा पीने का पानी

किन्तु जब यह भी नहीं मिला तो तेवर तीखा होना ही था, अपनी अस्मिता के लिए भाषा से आग का काम लेना था ही क्योंकि लोकतंत्र के निर्माण की यात्रा में किसी से विनती का समय भी बीत चुका था -

जब-जब भी कुछ माँगा ये गोलबन्द होकर टूट पड़े हैं अक्सर/
चक्रव्यूह में घिरे/अभिमन्यु की तरह देखता रह गया/
और तब उन्हें सुनाई देने लगती है खामोश आहटें/
आने वाले महाभारत की ....।

शास्त्रों से उम्मीद भी नहीं थी, इसीलिए इसने उन सभी सत्ताओं को नकार दिया जो दलित विरोधी थीं और इस रास्ते की सबसे बड़ी सत्ता थी - ईश्वर। यहाँ ईश्वर की सत्ता से टकराते समय कोई दुविधा नहीं है क्योंकि दलित साहित्य तार्किकता, आधुनिक लोकतांत्रिक वैचारिक संघर्षों को तरजीह देता है और यह रास्ता मिला था - आम्बेडकर के वैचारिक संघर्ष से, बुद्ध के दर्शन से। मोहन दास नैमिशराय जब यह लिखते हैं तो इसके पीछे ठोस कारण है -

ईश्वर की मौत उस पल होती है/जब मेरे भीतर उठता है सवाल
ईश्वर का जन्म/किस माँ की कोख से हुआ/ईश्वर का बाप कौन ?
अगर सचमुच तू कहीं होता/ तो सदियों की अपनी सल्तनत
का हिसाब मैं तुमसे जरूर चुकाता।

इसीलिए दलित कविता में समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक आशाओं के साथ ही तार्किक मुठभेड़ की अनुगूँजें हैं और यही इस कविता का बड़ा सरोकार भी है।

अस्मिताओं की समानान्तर यात्रा : पारम्परिक अस्मिता बनाम दलित

Scanned with CamScanner

अस्मिता :

'समकालीन भारत में दलित आन्दोलन नाना प्रकार के झंडों के तले विभिन्न रास्तों पर चल रहा है। इस आन्दोलन का प्रत्येक हिस्सा ऐसा कोई न कोई मुद्दा जरूर उठाता है, जिसका असर समूचे दलित समुदाय या उसके इस या उस तबके पर पड़ता है। इस प्रक्रिया में वह एक दलित अस्मिता का निर्माण भी करता चलता है और यह नयी अस्मिता द्विजों से भिन्न है। कुछ ऐसे समूह भी हैं जो आर्थिक और सामाजिक मुद्दों या पारम्परिक और नयी अस्मिता के द्विभाजन में यकीन नहीं रखते। उनकी नयी अस्मिता दलित होना यानी उत्पीड़ित और शापित होना है। अपनी इस बनती हुई अस्मिता के लिए वे अपनी पारम्परिक अस्मिता को मिटाने के लिए तैयार नहीं है। उनके लिए दोनों अस्मिताओं का सह अस्तित्व है। बुद्ध और आंबेडकर उनके पैगंबर और नायक जरूर हैं लेकिन उनके मन में गाँधी के लिए भी श्रद्धा है। उनका धर्म कोई भी हो, वे समता हासिल करने और छुआछूत मिटाने के लिए संघर्ष से प्रतिबद्ध हैं।'' (घनश्याम साह, आधुन्किता के आईने में दलित, पृठ 212)।

यह सच है कि दलितों के लिए गरीबी उतनी महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है, जितनी उनके उत्पीड़न और अस्मिता के प्रश्न। इसके लिए एक नयी संस्कृति (पृथक संस्कृति) के अनुसंधान की भी कोशिशें हो रही हैं। वी0टी0 राज़ेवर का दावा गलत नहीं है कि, ''बिना जड़ों के वृक्ष की भाँति इतिहास अथवा सांस्कृतिक जड़ों से विहीन लोग भी मर जाते हैं।'' इसीलिए दलित विचारक एक आन्दोलन से निकले शब्द 'हरिजन' को अस्वीकार करते हैं, हिन्दू सभ्यता के संस्कारों को भी बोझ मानते हैं क्योंकि ये चीजें उन्हें हिन्दू समाज का अंग बनाकर व्यक्तित्वहीन और अस्मिताहीन बना देंगी। राज़ोखर तो यहाँ तक कहते हैं कि अतीत में दलित 'भिन्न संस्कृति' के थे। उनकी अपील है -

दलित होने, इस प्राचीन धरती के मूल वासी होने में गर्व महसूस करो। आओ सिर ऊँचा करके चलें। दलित संस्कृति पर गर्व करें। जो काला है, वह सुन्दर है।'

(वी0टी0 राज़ेवर, ए नेम दैट डिस्ट्रायड दलित आइडेंडिटी', दलित वॉयस, खण्ड-8 अंक 2, दिसम्बर 1-15, 1988 और 'वाट इज दलित एण्ड दलितिज्म, दलित वॉयस, खण्ड-8, अंक 16, जून 1-15, 1988)

अस्मिता की यह तलाश दलित साहित्य के माध्यम से नयी उर्जा एवं शक्ति से संचालित है। बाबू राव बागुल ने कहा भी है - 'चूँकि मैं इस देश में पैदा हुआ हूँ, इसलिए मेरी एक जाति है। लेकिन जब से मैंने पुरुषों (और स्त्रियों) के बारे में लिखना और सोचना शुरू किया है, तभी से मैं इस देश और समूचे विश्व के उपेक्षित और वंचित लोगों यानी दलितों का अंग बन गया हूँ।' (आधुनिकता के आईने में, पृष्ठ 209)।

इन स्वीकारोक्तियों के बावजूद हिन्दी पट्टी में पैदा हुए दलित आन्दोलन के बारे में विचार करें, तो इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य के भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका को एक मानवतावादी चेहरा देने की कोशिश की थी, जिसमें उत्तर के रामानन्द, कबीर, रैदास पूर्व में चैतन्य और चण्डीदास, पश्चिम में चोखा मेला, तुकाराम और नरसिंह मेहता, दक्षिण में निबांरका और बसव आदि की तरह ही उल्लेखनीय हैं। ये संत द्विज जाति से भी थे और दलित जातियों से भी, किन्तु एक ऐसे समय में जब अश्पृष्यता धर्म का पर्याय बन रहा थी तब इन्होंने जातिगत भेदभाव के विरोध के साथ ही ईश्वर के समक्ष सभी मनुष्य की समानता का दावा किया और निचली कही जाने वाली जातियों में आत्मगौरव का भाव भर के उनमें ज्ञान-भक्ति के महत्व से परिचित कराया। चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र के दलित भक्त चोखामेला अपनी दमित हैसियत को पूरे विद्रोही तेवर के साथ उजागर तो करते हैं, किन्तु धर्म की दीवारें इतनी सख्त थी कि वे उससे बाहर नहीं जा सके, फिर भी ईश्वर के सामने उनका यह साहस उल्लेखनीय है -

जीवन अगर यही देना था -
देने की क्या थी जरूरत भला ?
जनम दिया कि बला टाली, निठुरता दिखा दी!
कहाँ चल दिये थे जनम की घड़ी ?
किस बैरी की सुध तुम्हें खींच कर ले गयी थी ?
चोखा की विनय सुनो केशव, जाने मत दो।

इस प्रश्नवाचकता के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वे अन्ततः भक्त हैं और एक भक्त की तरह ही अपनी अछूत स्थिति का कारण पिछले जन्म को मानते हैं -

उस एक नाम की निर्मल चोखामेला को है लगन लगी।
मैं तो महार, कहाँ मेरी कोई है जात ?
पिछले जनम के करम होंगे जो
नील की तरह जनमा महार -
नील जिसने कृष्ण से
पिछले जनम में कभी
बेअदबी की थी ?

(जिलियट के अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी रूपान्तरण)

किन्तु हिन्दी भक्ति आन्दोलन में भी सभी संत कर्म सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। कबीर

Scanned with CamScanner

अस्मिता :

'समकालीन भारत में दलित आन्दोलन नाना प्रकार के झंडों के तले विभिन्न रास्तों पर चल रहा है। इस आन्दोलन का प्रत्येक हिस्सा ऐसा कोई न कोई मुद्दा जरूर उठाता है, जिसका असर समूचे दलित समुदाय या उसके इस या उस तबके पर पड़ता है। इस प्रक्रिया में वह एक दलित अस्मिता का निर्माण भी करता चलता है और यह नयी अस्मिता द्विजों से भिन्न है। कुछ ऐसे समूह भी हैं जो आर्थिक और सामाजिक मुद्दों या पारम्परिक और नयी अस्मिता के द्विभाजन में यकीन नहीं रखते। उनकी नयी अस्मिता दलित होना यानी उत्पीड़ित और शापित होना है। अपनी इस बनती हुई अस्मिता के लिए वे अपनी पारम्परिक अस्मिता को मिटाने के लिए तैयार नहीं है। उनके लिए दोनों अस्मिताओं का सह अस्तित्व है। बुद्ध और आंबेडकर उनके पैगंवर और नायक जरूर हैं लेकिन उनके मन में गाँधी के लिए भी श्रद्धा है। उनका धर्म कोई भी हो, वे समता हासिल करने और छुआछूत मिटाने के लिए संघर्ष से प्रतिबद्ध हैं।'' (घनश्याम साह, आधुनिकता के आईने में दलित, .पृठ 212)।

यह सच है कि दलितों के लिए गरीबी उतनी महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं है, जितनी उनके उत्पीड़न और अस्मिता के प्रश्न। इसके लिए एक नयी संस्कृति (पृथक संस्कृति) के अनुसंधान की भी कोशिशें हो रही हैं। वी0टी0 राज़ेवर का दावा गलत नहीं है कि, ''बिना जड़ों के वृक्ष की भाँति इतिहास अथवा सांस्कृतिक जड़ों से विहीन लोग भी मर जाते हैं।'' इसीलिए दलित विचारक एक आन्दोलन से निकले शब्द 'हरिजन' को अस्वीकार करते हैं, हिन्दू सभ्यता के संस्कारों को भी बोझ मानते हैं क्योंकि ये चीजें उन्हें हिन्दू समाज का अंग बनाकर व्यक्तित्वहीन और अस्मिताहीन बना देंगी। राज़ोखर तो यहाँ तक कहते हैं कि अतीत में दलित 'भिन्न संस्कृति' के थे। उनकी अपील है -

दलित होने, इस प्राचीन धरती के मूल वासी होने में गर्व महसूस करो। आओ सिर ऊँचा करके चलें। दलित संस्कृति पर गर्व करें। जो काला है, वह सुन्दर है।'

(वी0टी0 राज़ेवर, ए नेम दैट डिस्ट्रायड दलित आइडेंडिटी', दलित वॉयस, खण्ड-8 अंक 2, दिसम्बर 1-15, 1988 और 'वाट इज दलित एण्ड दलितिज्म, दलित वॉयस, खण्ड-8, अंक 16, जून 1-15, 1988)

अस्मिता की यह तलाश दलित साहित्य के माध्यम से नयी उर्जा एवं शक्ति से संचालित है। बाबू राव बागुल ने कहा भी है - 'चूँकि मैं इस देश में पैदा हुआ हूँ, इसलिए मेरी एक जाति है। लेकिन जब से मैंने पुरुषों (और स्त्रियों) के बारे में लिखना और सोचना शुरू किया है, तभी से मैं इस देश और समूचे विश्व के उपेक्षित और वंचित लोगों यानी दलितों का अंग बन गया हूँ।' (आधुनिकता के आईने में, पृष्ठ 209)।

इन स्वीकारोक्तियों के बावजूद हिन्दी पट्टी में पैदा हुए दलित आन्दोलन के बारे में विचार करें, तो इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य के भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका को एक मानवतावादी चेहरा देने की कोशिश की थी, जिसमें उत्तर के रामानन्द, कबीर, रैदास पूर्व में चैतन्य और चण्डीदास, पश्चिम में चोखा मेला, तुकाराम और नरसिंह मेहता, दक्षिण में निबांरका और बसव आदि की तरह ही उल्लेखनीय हैं। ये संत द्विज जाति से भी थे और दलित जातियों से भी, किन्तु एक ऐसे समय में जब अस्पृश्यता धर्म का पर्याय बन रहा थी तब इन्होंने जातिगत भेदभाव के विरोध के साथ ही ईश्वर के समक्ष सभी मनुष्य की समानता का दावा किया और निचली कही जाने वाली जातियों में आत्मगौरव का भाव भर के उनमें ज्ञान-भक्ति के महत्व से परिचित कराया। चौदहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र के दलित भक्त चोखामेला अपनी दमित हैसियत को पूरे विद्रोही तेवर के साथ उजागर तो करते हैं, किन्तु धर्म की दीवारें इतनी सख्त थी कि वे उससे बाहर नहीं आ सकें, फिर भी ईश्वर के सामने उनका यह साहस उल्लेखनीय है -

जीवन अगर यही देना था -
देने की क्या थी जरूरत भला ?
जनम दिया कि बला टाली, निठुरता दिखा दी!
कहाँ चल दिये थे जनम की घड़ी ?
किस बैरी की सुध तुम्हें खींच कर ले गयी थी ?
चोखा की विनय सुनो केशव, जाने मत दो।

इस प्रश्नवाचकता के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वे अन्ततः भक्त हैं और एक भक्त की तरह ही अपनी अछूत स्थिति का कारण पिछले जन्म को मानते हैं -

उस एक नाम की निर्मल चोखामेला को है लगन लगी।
मैं तो महार, कहाँ मेरी कोई है जात ?
पिछले जनम के करम होंगे जो
नील की तरह जनमा महार -
नील जिसने कृष्ण से
पिछले जनम में कभी
बेअदबी की थी ?
(जिलियट के अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी रूपान्तरण)

किन्तु हिन्दी भक्ति आन्दोलन में भी सभी संत कर्म सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। कबीर

Scanned with CamScanner

की उपस्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने धर्म की सत्ताओं के साथ ही वर्णवादी सत्ताओं से भी कभी समझौता नहीं किया, बल्कि इनके आडम्बरों पर अपनी भौंहें सदैव टेढ़ी ही रखी तथा वे कर्मफलवाद को भी अस्वीकार करने के कारण वेद के विपक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। उनका रास्ता वेदमार्ग नहीं, बल्कि जनता का मार्ग है, अछूत, अश्पृष्य के आत्मगौरव का रास्ता है। किन्तु अंग्रेजी उपनिवेशवाद के दौर में आर्थिक-राजनीतिक जागरूकता एवं धर्म सुधार आन्दोलनों के कारण एवं महाराष्ट्र में दलित संघर्ष की पृठभूमि के कारण कर्म सिद्धान्त की जकड़ ढीली हुई। महाराष्ट्र के दलित कवि किसन फागू बनसोड की मार्मिक प्रार्थना उल्लेखनीय है -

प्रभु जी, बना देना चिरई चुनमुन, जनावर
बनाना नहीं फिर महार

बनसोड अपनी एक अन्य कविता 'संघर्ष बिना मुक्ति नहीं' में यह मानते हैं कि सामाजिक समानता के लिए सतत संघर्ष जरूरी है, किन्तु संघर्ष के स्वरूप को लेकर दलित आन्दोलन में भी दो धाराएं बहुत पहले से दिखाई देने लगी थी। एक तरफ आर्य समाज के नव वेदान्त, कुछ हिन्दू सुधारक और महात्मा गाँधी हैं, जो हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर ही मुक्ति की राहें देखते हैं, इन लोगों की मान्यता है कि छूआछूत हिन्दू धर्म का अनिवार्य अंग नहीं है, यह हिन्दू धर्म की मूल भावना के उल्लंघन का ही परिणाम है, इसीलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं महात्मा गाँधी ने छुआछूत पर लगातार प्रहार किया, महात्मा गाँधी ने तो हरिजन सेवक संघ की स्थापना करके अपृश्यता उन्मूलन के अनेक कार्यक्रम भी चलाए, यद्यपि कि आज का दलित लेखक इसे स्वीकार नहीं करता तथा इससे जुड़ना भी नहीं चाहता, किन्तु दलित आन्दोलन की यह सुधारवादी धारा हिन्दी में भी आदि हिन्दू आन्दोलन से जुड़े रचनाकारों के यहाँ बहुत सघन रूप में विद्यमान हैं। स्वामी शंकरानन्द का भजन उल्लेखनीय है -

लो अछूतों को छाती लगा हिन्दुओं
वरना ये लाल गैरों के घर जायेंगे।
गर मुहब्बत का मरहम लगाते रहे

जख्म ये आपके भर जायेंगे।

(शंकरानन्द भजनावली - स्वामी शंकरानन्द, पृष्ठ 7)

इसीलिए आज के दलित आन्दोलन को इनसे खास प्रेरणा नहीं मिली। संघर्ष का स्वर उन्हें आम्बेडकर की उपस्थिति से मिला। गौरतलब है कि हिन्दू धर्म की व्यवस्था से बँधे ये लेखक धर्मान्तरण के कारण अपनी जड़ों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। डॉ० आम्बेडकर के समय

में भी उनके आह्वान के बावजूद उनके एक सहयोगी भीमसेन करडक ने भी धर्मान्तरण के
खिलाफ दलील देते हुए कहा था -
'हलाँकि मैं खुद को आंबेड्कर का अनुयायी समझता हूँ लेकिन मुझे स्वीकार
करना चाहिए कि मैं उनकी धर्मान्तरण की अपील से सहमत नहीं हूँ। देखो, हमारे पितामह
और पूर्वज हिन्दुओं की तरह ही जिये और मरे, लेकिन उन्होंने धर्म कभी नहीं छोड़ा। अपने
पूर्वजों के धर्म को छोड़कर किसी विजातीय धर्म को अपनाने की क्या तुक है ? हिन्दू बने
रहने और समता के लिए संघर्ष चलाते रहने में क्या गलत है ? कल न सही, एक न एक
दिन हमें हमारे अधिकार मिल कर रहेंगे ...... हमें अपना सामाजिक आन्दोलन चलाते
रहना चाहिए और ऊँची जाति के हिन्दुओं के साथ मिल कर अपने मानवाधिकारों के लिए
संघर्ष करते रहना चाहिए।' (जयश्री गोखले, 'कास्ट, क्लास एण्ड डामिनेंस : पैटर्न्स ऑव
पॉलटिको - इकॉनॉमिक चेंज इन माडर्न इण्डिया विषय पर फिलाडेल्फिया में आयोजित
सेमीनार में पढ़ा गया आलेख विषय : दि इवोलूशन ऑव ए काउंटर आइडियॉलजी :
दलित कांसनेस इन महाराष्ट्र, 1984, पृठ 213)।

(अस्मिताओं का सहअस्तित्व, पृष्ठ 201)

किन्तु यह दलील बहुत दूर तक नहीं चल सकी क्योंकि इसका कारण डॉ० आम्बेडकर का
दर्शन है, जो धर्मान्तरण को महत्वपूर्ण मानते हुए हिन्दू वर्णव्यवस्था से मुक्ति का भी
आकांक्षी है और 'राष्ट्र की कथित चिरंतनता को भी अस्वीकार करते हैं क्योंकि उनका
विश्वास है कि ये चीजें दलित की मुक्ति में बाधक हैं दलित अस्मिता के भीतर से पैदा
हुए 'दलित' शब्द में ही छुआछूत, कर्म सिद्धान्त और जातिगत श्रेणीक्रम का नकार निहित
है तो सामुदायिक चेतना एवं समता भाव भी किन्तु यह सत्य है कि मुक्ति की यह यात्रा
हिन्दू धर्म के दायरे के भीतर भी है और बाहर भी। आम्बेडकर के आह्वान के बावजूद
गुजरात के एक हरिजन नेता ने अपने जाति भाइयों से यह अपील की थी -
''तुम हिन्दू हो। तुम्हारे पूर्वज हिन्दू थे। तुम्हें यह साफ समझ लेना चाहिए कि
दूसरा धर्म अपना कर भी तुम हिन्दू ही रहोगे। तुम्हें ध्यान रखना चाहिए कि सभी हिन्दू
कट्टरपंथी नहीं होते हैं। महर्षि दयानन्द, राजाराम मोहन राय, महात्मा गाँधी, हिन्दू ही थे,
जिन्होंने अछूतों की हालत सुधारने में दिलचस्पी दिखाई। बहरहाल, हिन्दू धर्म के प्रति
तुम्हारा असंतोष समझा जा सकता है लेकिन क्या हिन्दू धर्म छोड़ने के लिए यह कारण
काफी है ? क्या हम हिन्दू धर्म को धारण करने का अपने पूर्वजों का अधिकार छोड़ दें।
हिन्दू धर्म पर तुम्हारा भी इतना ही अधिकार है जितना सवर्णों का है ...... अपने पूर्वजों
की इस विरासत को छोड़ देना कायरता होगी जिसे उन्होंने संकट में भी कायम रखा था।
इस धरती पर ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ कायरों को खुशी और शान्ति नसीब हो सके?

Scanned with CamScanner

इसलिए तुम्हें अपना धर्म छोड़ने का विचार त्याग देना चाहिए। तुम्हें अपने धर्म का मर्म समझने की कोशिश करनी चाहिए ....।' (आधुनिकता के आइने ...., पृष्ठ 200-201)।

इसमें कोई दो राय नहीं कि दलित होना अछूतों के लिए नयी अस्मिता का प्रमाण जरूर है, किन्तु यहाँ दो स्थितियाँ दिखाई दे रही है। समाज में दलित और कहीं साहित्य में भी अपनी परम्परागत अस्मिता से पूरी तरह मुक्त नहीं है, बशर्ते नयी अस्मिता के रूप में बौद्ध धर्म का अनुसंधान जरूर किया है (धर्मन्तरण के रूप में), किन्तु दलित समाज में वे दोनों अस्मिताएं एक साथ-साथ दिखाई दे रही हैं, किन्तु दोनों ही अस्मिताओं का मूल तत्व है - दलितपन से मुक्ति और यह दलितपन है - छुआछूत, कर्मसिद्धान्त, जातिगत श्रेणीक्रम का नकार है। अम्बेडकर का कथन है, 'अगर अछूतों ने 'आजादी की लड़ाई' से खुद को दूर रखा है तो वह इसलिए नहीं कि वे बरतानवी साम्राज्यवाद के पिट्ठू हैं बल्कि इसलिए कि उन्हें डर है कि हिन्दुस्तान की आजादी हिन्दू राज कायम कर देगी जिसके फलस्वरूप उनके लिए जिन्दगी, आदी और खुशी के तमाम रास्ते हमेशा के लिए बन्द हो जाएँगे।' (डॉ0 अम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, गीता और राजादुरै, पृष्ठ 168-169)।

यह कथन दलित साहित्य को अपना लगता है और दलित लेखक इसमें अस्मिता का स्वर देखता है। इस अस्मिता का, मुक्ति का प्रथम चरण धार्मिक मुक्ति है। इसीलिए अम्बेडकर दलित मुक्ति के लिए हिन्दू धर्म के दायरे से मुक्ति को अपनी प्राथमिकता मानते हैं और जिस धर्म में मुक्ति की राहें देखते हैं, वह बौद्ध धर्म है, क्योंकि 'बुद्ध धर्म में ईश्वर की कोई जगह नहीं है।' महार बौद्ध बुद्धिजीवी शंकर राव खरात के अनुसार : मैंने बुद्ध का धम्म स्वीकार कर लिया है। अब मैं बौद्ध बन चुका हूँ। न मैं महार हूँ, न अछूत और न ही हिन्दू। मैं मनुष्य बन चुका हूँ। अब मैं ऊँची जाति के हिन्दुओं के समकक्ष हूँ। मैं सबके बराबर हूँ। न मैं जन्म से नीच हूँ और न हीन ..... बौद्ध बनते ही मेरी अस्पृश्यता का विलोप हो गया है। अपृश्यता की जिन जंजीरों में जकड़ा हुआ था वे टूट गयी हैं। अब मैं दूसरों की ही तरह एक मनुष्य हूँ ...... अब मैं मुक्त हूँ। मैं आजाद भारत का स्वतंत्र नागरिक बन गया हूँ।' (गोखले का भाषण, 206, अभय कुमार दुबे)। इसीलिए अस्मिता की खोज में रत दलित लेखकों ने बुद्ध को मुक्तिदाता के रूप में रेखांकित किया, तो इसका कारण अम्बेडकर का जीवन दर्शन ही है। नामदेव ढसाल की यह कविता महत्वपूर्ण है -

मैं तो तुम्हें कभी भी
जेता के बाग में नहीं देखता -
ध्यानमग्न - आँखें मूँदे बैठे पद्मासन में,

या फिर गुफाओं में
अजंता - एलोरा की -
पत्थर के होंठ सिर -
सोये हुए अंतिम नींद!
तुम्हें देखता हूँ मैं बतियाते, चलते-फिरते,
धीरे-धीरे साँसे लेते
निर्धन-निर्बल लोगों के दुख पर,
जाते हुए - उनका एक झोपड़ी से
दूसरी झोपड़ी तक -
जीवन को तहस-नहस करते अँधेरे में
एक मशाल लिये,
किसी छूत के रोग की तरह
खून चूसने वाले
दुख को
देते हुए
एक नयी अर्थवत्ता!

(जिलियट और कर्वे द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तरण)

दलित लेखकों को यह लगता है कि यही रास्ता उन्हें समता एवं गरिमा प्रदान कर सकता है तथा हिन्दू धर्म की निरंकुश, क्रूर सत्ताओं से मुक्ति दिला सकता है। हरीश बारीसोड की कविता 'तुम्हीं बाम्बला आर।' में पीड़ा एवं आक्रोश के साथ ही बुद्ध के इस पुनराविष्कार में उम्मीद की लौ दिखाई देती है -

मंदिर की सीढ़ियों पर हमने
गुजारा है सारा जीवन -
भक्ति के गीत दहाड़ते हुए,
गाते-रोते

हमने मीलों का किया है सफर तय
पढ़ारपुर तक।

....

तुम्हारे दरवाजे पर हमने
गुजारा है सारा जीवन

Scanned with CamScanner

पर हम मिले हैं कहाँ ?

बाहर हम, भीतर तुम -
हम सीढ़ियों पर तुम मंदिर में
क्योंकि तुमने हमको समझा अछूत!
लेकिन अब बीत गये वे दिन,
हमने है शुरू किया जीवन नया,
अपने नये देवालय ढूँढ़ कर
खोया विश्वास पा लिया -
वहीं है हमारे देवता जहाँ हम हैं
सब हैं यहाँ बराबर ....
विश्वास यह भेदेगा
दुनिया का हर कोना
अब तुम चिल्ला सकते हो, चिल्लाना।

हाय यह कैसा अधःपतन!
भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण धरम!
जलाओ चिता अपनी
और करोगे भी क्या ?

(गौरी देश पाण्डेय के अंग्रेजी अनुवाद का रूपान्तरण)

इसीलिए हिन्दी का दलित कवि भी वैषम्यपूर्ण व्यवस्था को चीरकर नयी दुनिया में ले जाना चाहता है। ओम प्रकाश बाल्मीकि की यह प्रश्नवाचकता महत्वपूर्ण है और तार्किक भी -

चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है

मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों!

यहाँ जो निजी है, वह भी सामाजिक है। व्यक्तिगत संवेदनाओं की मार्मिक दुनिया ओमप्रकाश बाल्मीकि, कंवल भारती, जयप्रकाश कर्दम, श्योराज सिंह बेचैन, गंगाराम परमार, मलखान सिंह, रमणिका गुप्ता, सुशील टाकभौरे, रजनी तिलक के यहाँ हैं, किन्तु इनकी निष्पत्ति में सामुदायिक सामूहिक तड़प है। इस दृष्टि से मलखान सिंह के 'सुनो ब्राह्मण' में चुप्पी नहीं, बल्कि युद्ध की उद्घोष है, लेकिन कविता, कविता भी है - लेकिन जब किसी

कुठौर चोट पर/बेटे को फफकते देखता हूँ तो/सूखे घाव दुसियाने लगते हैं/बूढ़ा खून हरकत में आ जाता है/और मन किसी बिगड़ैल भैंसे-सा/जुआ तोड़ने को फुँफकार उठता है।'

दलित स्त्री की मुक्ति यात्रा : दूसरा शोषण, दोहरा अभिशाप :

कहते हैं कोई
मुझे बना कर पीढ़ा
खींच-खींच कर बैठेंगे
डाल कर नकेल
मुझे हाँकेंगे-नचाएँगे।

(दलितरालु, शशि निर्मला)

'अशपृश्यता को नकारने वाली भीमस्मृति और अस्पृश्यता का पालन करने वाली मनुस्मृति एक ही सभागृह में और एक ही घर में साथ-साथ राज करती है। यानी देश एक ही समय में दो स्मृतियों, दो सत्ताओं और दो जीवन पद्धतियों में जीता है।' (बाबूराव बागुल)

उपर्युक्त दोनों कथनों के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि दलित समाज एवं साहित्य जहाँ एक ओर अपने भीतर फन फैलाए मध्यवर्ग की कुंठाओं, रूढ़ियों, पूँजीवादी मानसिकता के उदय से जूझ रहा है, वहीं उसके भीतर दलित स्त्री चेतना की अनुगूँजे भी साफ सुनाई दे रही हैं। दलित स्त्री की त्रासदी दुहरी है, उनके सामने एक ओर वर्णवादी-जातिवादी क्रूर शक्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर पितृसत्ता की दीवारें, फिर भी दलित साहित्य आन्दोलन में स्त्री प्रश्न हाशिए पर ही है, यद्यपि कि भँवरी बाई, बसमतिया, मल्लिका अमर शेख, कुमुद पावड़े, बेबी कांबले, मीनाक्षी मून, कौसल्या बैसंत्री, रजनी तिलक जैसी महिला चरित्र हैं, जहाँ स्त्री अस्मिता का स्वाधीन तेवर है, फिर भी दलित आन्दोलन के भीतर स्त्री के प्रश्न को उठाने वाले बहुत थोड़े से लोग हैं। मोहनदास नैमिषराय इसका कारण ठीक ही स्वीकार करते हैं, 'पहला, इस आन्दोलन में स्त्रियों की सक्रिय उपस्थिति इतनी कम है कि यह मुद्दा किसी का ध्यान नहीं खींचता। दूसरा, हर स्थिति के लिए प्रतिपक्षी को जिम्मेदार ठहराने की प्रवृत्ति इतनी हावी है कि अन्य पहलुओं की तरफ ध्यान ही नहीं जाता और तीसरा, असुविधा जन आंतरिक सवालों से कतराने की नवजागरणकालीन प्रविधि का इस्तेमाल इस वक्त भी हो रहा है, क्योंकि स्त्रियों की स्थिति पर बात करना खुद दलित पुरुषों के लिए सहूलियत-भरा मामला नहीं है इसलिए इसका विमर्श के केन्द्र न आ पाना स्वाभाविक है।' (आधुनिकता के आईने में दलित - अभय कुमार दुबे, मोहनदारा नैमिशराय का लेख 'दोनों गालों पर थप्पड़', पृष्ठ 237)

पर इन सब स्थितियों के बावजूद दलित मुक्ति चेतना ने दलित स्त्री के मन में

Scanned with CamScanner

मुक्ति की आकांक्षा एवं संघर्ष का तेवर दोनों ही दिया है, भले ही सीमित दायरे में। आत्मकथाओं में आक्रोश एवं अस्मिता का तेवर प्रबल है, किन्तु कविता में भी यह स्वर दिखाई देने लगा है। बकौल चल्लापल्ली स्वरूप रानी दलित नारी के हाथ में 'अक्षर' अस्त्र बन रहा है -

अरे हाँ .... अपनी जिन्दगी को मैंने जिया कब ?
घर में पुरुषाहंकार एक गाल पर थप्पड़
मारता है तो
गली में वर्ण आधिपत्य दूसरे गाल पर चोट करता है।

जाहिर है कि दलित स्त्री के शोषण पर ओम प्रकाश बाल्मीकि, कँवल भारती, मोहनदास, नैमिशराय जैसे हिन्दी लेखक संवेदनशील हैं। मोहनदास नैमिशराय की टिप्पणी गौरतलब है, 'ये अम्बेडकरवादी (सतही आम्बेडकरवादियों) एक तरफ नारेबाजी के बीच मनुस्मृति का दहन करने के साथ हिन्दू देवी-देवताओं को, गालियाँ देते हैं, दूसरी तरफ अपने ही घर में अपनी ही पत्नियों के साथ और अपने ही श्रद्धा पुरुष आंबेडकर के चित्र की छाया में मनु की आचार-संहिता का पूरा-पूरा पालन करते हैं। दलित नारी अभी भी ऐसे कथित दलित क्रांतिकारियों के बीच पिस रही है।' (वही, पृष्ठ 241)। दलित स्त्री में पैदा होते स्वाभिमान एवं संघर्ष को हिन्दी कविता एवं विचारों की दुनिया में महसूस किया जा सकता है। राजस्थान की कुसुम मेघवाल मानती हैं कि 'आज 'उनमें विश्वास जगा है। वे अपनी सहायता स्वयं करने में विश्वास करने लगी हैं। वे भाग्य और भगवान के भरोसे नहीं हैं।' (तेलगू साहित्य में दलित दस्तक, सं0 रमणिका गुप्ता और डॉ0 वी0कृष्ण, नवलेखन प्रकाशन, हजारी बाग, 2001, पृष्ठ 165)।

रमणिका गुप्ता तो यहाँ तक लिखती हैं कि 'दलित मुक्ति के झण्डाबरदारों को अधिक उदार और सहनशील होना होगा और अपनी कमियों को स्वीकारना होगा। ...... अन्यथा वे भी ब्राह्मणवादी परम्परा के अनुयायी बनकर गार्गी द्वारा सवाल पूछे जाने पर उसका सिर धड़ से अलग करने की धमकी देकर अपने आन्दोलन को संकुचित कर लेंगे।' (वही, पृष्ठ 168) इतना ही नहीं सच तो यहाँ तक है कि अब तक के नारीवादी आन्दोलनों में भी दलित स्त्री का स्पेस कम ही दिखाई देता है, दलित आन्दोलन को इस बात का श्रेय है कि उसने अपने भीतर एक और चेतना - दलित स्त्री चेतना - का अंकुर समेटे हुए हैं। विजय श्री की यह कविता 'पंचायती' रेखांकित करने योग्य है, जो दलित स्त्री की यातना को ठीक से रेखांकित करती है -

क्या अब पता चला कि मैं चमारिन हूँ,
मुझे राम-कीर्तन न आने पर

कहता है मुझसे अच्छी भैंस है
संस्कृत में गाली देता है
मैं नीची जात की हूँ

(वही, पृष्ठ 165)

'यह तुम भी जानो' (1994) और 'तुमने इसे कब पहचाना' (1995) काव्यसंग्रहों की लेखिका सुशीला टॉकभौरे ने लिखा है - ''यह सत्य है कि दलित स्त्री दलितों में भी दलित है सामाजिक वर्ण व्यवस्था के आधार पर अतिशूद्र वर्ग ने दलित स्थिति को भोगा है लेकिन दलित स्त्री तो इस रूप में दोहरा सन्ताप उठाती है - दलित वर्ग दलित साहित्य रचना के कार्य और दलितोद्धार के आन्दोलन से जुड़े हैं, लेकिन उनके अधिकांश घरों की स्त्रियाँ इन सब से अनभिज्ञ हैं। आज भी सोलहवीं सदी की स्थिति के सन्ताप को भोग रही हैं। दलित समाज में जागृति एवं नारी मुक्ति के समर्थक नेता बहुत कम है। जो कि समाज की नारियों को तथा अपने घर की नारियों को आगे आने का अवसर दे रहे हैं - लेकिन अधिकांश लोग नारी के दालित्य को दालित्य नहीं मानते। वे मानते हैं, कि उनकी दलित अवस्था से मुक्ति के साथ ही नारी भी दलित स्थिति से मुक्त हो जायेगी लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि वह पुरुष समाज द्वारा दी गई उत्पीड़न से कभी मुक्त नहीं हो पायेगी। इस तरह सारी स्वतंत्रताओं की ओर अधिक प्राप्ति के बाद भी वह दलित ही बनी रहेगी।' (दलित दखल, पृष्ठ 179)।

वे आगे भी लिखती हैं - 'दलित स्त्रियों ने कई सदियों से लगातार पीड़ा को भोगा है। अपनी मूक वाणी को मुखरित करना, अपने दुःख, कष्ट और अपने प्रति अन्याय को व्यक्त करना उसे बाज़ार में लाया जाना नहीं कहा जा सकता।' (वही, पृष्ठ 179)

सुशीला के इन कथनों में दलित चेतना के भीतर स्त्री की यातना एवं उसके संघर्षों की चुनौतियों को समझा जा सकता है। दलित चेतना जिस मुक्तिकामी सन्दर्भों के साथ आगे बढ़ी थी, वह यदि स्त्री प्रश्नों को अपने भीतर नहीं समेटती है तो यह ऐतिहासिक चूक होगी, फिलहाल हिन्दी के अनेक दलित लेखक कँवल भारती, ओमप्रकाश बाल्मीकि, श्योराज सिंह बेचैन, कालीचरण सनेही आदि स्त्री के दर्द में साझीदार हैं। किन्तु महिला लेखिकाओं में अनुसूया 'अनु', कावेरी, सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, हेमलता का स्वर विशिष्ट है। इसमें भी सुशीला के यहाँ स्त्री की स्वाधीन राह के लिए संघर्ष सघन है, वह पुरुष वर्चस्ववाद से सीधे टकराते हुए नयी राह की तलाश में हैं -

उस जमीन पर चलना
जहाँ पहले से
कोई राह नहीं

Scanned with CamScanner

कितना अच्छा लगता है
स्वयं
अपनी राह बनाना

(स्वाति बूँद और खारे मोती, पृष्ठ 21)

स्वाति बूँद और खारे मोती (1993), यह तुम भी जानो (1994), तुमने उसे कब पहचाना (1995) तक की अपनी यात्रा में सुशीला के यहाँ स्त्री स्वर की अनुगूँजें क्रमशः बढ़ती गयी है, जिनमें चीत्कार भी है और समय को चीरती हुई बिम्बधर्मी भाषा भी। सभी सत्ताएं जो दलित स्त्री के शोषण में साझीदार हैं, उन्हें वे पहचानती है -

अगर बन जाऊँ मैं
सनातन परम्परा को तोड़ने हेतु
तुम्हारे लिये अभिशाप
गहरे कुएँ तक पहुँचा हूँ
तुम्हारे चिन्तन के आधार ग्रन्थ

(तुमने उसे कब पहचाना, पृष्ठ 30)

रजनी तिलक का भी रेंन्ज बड़ा है। नालों के किनारे गुजर-बसर करने वाले दलित- शोषित उनकी कविता के विषय हैं, तो अमेरिकी साम्राज्यवाद के चरित्र से भी वे परिचित हैं, नयी आजादी के लिए उनके यहाँ संघर्ष हैं, जातिविहीन समाज निर्माण की आकांक्षा उनकी कविता की पहचान है -

वो हमें बांट देना चाहते हैं
उपजातियों के मिथ्या झंझट में
बाल्मीकि, रैगर, चमार, खटीक
धानुक,, कंजर, आदिवासियों में
उनकी बात में न आना

मकसद है उनका हमें लड़ाना।

(पदचाप, पृष्ठ 15)

स्त्री के ज़िद्‌दी स्वरों के बावजूद रजनी तिलक के यहाँ दलित चेतना दरअसल मानवाधिकार की चेतना से लैस है, जिसे उन्होंने आन्दोलनों के बीच से अर्जित किया है। वे जानती हैं कि एक दलित और सवर्ण स्त्री की नियति में अन्तर है - एक भंगी तो दूसरी ब्रामणी/एक डोम तो दूसरी ठकुरानी/दोनों सुबह से शाम खटती हैं/बेशक एक, दिन भर खेत में/दूसरी, घर की चारदीवारी में/शाम को एक सोती है बिस्तर पे/तो दूसरी काँटों

पर/प्रसव पीड़ा झेलती फिर भी एक सी/जन्मती है एक नाले के किनारे/दूसरी अस्पताल में/एक पायलट है/तो दूसरी शिक्षा से वंचति हैं,/एक सत्तासीन है,/तो दूसरी निर्वस्त्र घुमायी जाती है।/औरत औरत में भी अन्तर है। (वही, पृष्ठ 40-41)।

परम्परा की विरासत एवं मुक्ति संघर्ष की ऐतिहासिक चेतना :

'दलित कविता इस तरह की कविता नहीं है, जैसे आम तौर पर कोई प्रेम या विरह में पागल होकर गुनगुनाने लगता है। यह वह कविता भी नहीं है, जो पेड़-पौधों, फूलों, रूढ़ियों, झरनों और पर्वतमालाओं की चित्रकारी में लिखी जाती है। यह किसी का शोकगीत और प्रशस्तिगान भी नहीं है। दरअसल यह वह कविता है, जिसे शोषित, पीड़ित, दलित अपने दर्द को अभिव्यक्त करने के लिए लिखता है। यह वह कविता है, जिसमें दलित कवि अपने जीवन के संघर्ष को उतारता है। यह दमन, अत्याचार, अपमान और शोषण के खिलाफ युद्धगान है।' (दलित कविता का संघर्ष, कँवल भारती, पृष्ठ 13)

दलित कविता जहाँ एक ओर वर्तमान समकालीन सन्दर्भों के साथ सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, पारम्परिक जीवन मूल्यों से टकरा रही है, वहीं उसके सामने, साहित्यिक मूल्य भी अवरोधक, बनकर खड़े हैं, जिनसे टकराये बिना दलित कविता की संघर्ष यात्रा अधूरी है। ऐतिहासिक पृठभूमि के तौर पर जहाँ हिन्दी और मराठी के संत कवि हैं, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय के रचनाकार हैं, वहीं आजादी के पूर्व के वे जन्मना दलित कवि भी हैं, जो विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक प्रभावों से कविताएं लिख रहे थे।' (आई0आई0ए0एस0 के दिए ओमप्रकाश बाल्मीकि के व्याख्यान के सारांश से)।

इन दोनों कथनों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की दलित कविता की विरासत का मूल्यांकन करें तो यह कहा जा सकता है कि भले ही दलित कविता का वैचारिक आधार डॉ0 अम्बेडकर का सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक दर्शन है, संघर्ष है, मराठी के दलित पैंथर की सक्रियता से, किन्तु इसकी जड़ें हिन्दी ही नहीं भारतीय साहित्य में बहुत गहरी हैं। यद्यपि कि दलित लेखकों का एक वर्ग ऐसा है जो यह मानता है कि दलित कविता का मूल उत्स डॉ0 अम्बेडकर की उपस्थिति ही है, किन्तु अनेक दलित लेखकों, विचारकों की तरह ही मेरा भी मानना है कि हिन्दी दलित कविता भले ही बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में अपनी पूरी मुक्तिकामी चेतना के साथ दिखाई देती है, किन्तु इस ऐतिहासिक परम्परा में सिद्ध, नाथ एवं संत साहित्य के साथ आर्य समाज के सुधारवादी आन्दोलनों से जुड़े लेखकों विशेषतः शंकरानन्द, हीरा डोम, स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर', अयोध्यानाथ दण्डी, केवलानन्द, रूपचन्द, बिहारी लाल 'हरित' आदि की भूमिका को भुलाया नहीं जा सकता है।

दलित कविता का स्वर युद्ध, शौर्य और संघर्ष का स्वर है। वह अपनी आत्मसंभवा

अभिव्यक्ति खोजने के डगर पर है। युद्ध और रचना का अंतर्गुम्फन है, किन्तु युद्ध यहाँ चेतना भले ही न हो किन्तु दलित जीवन की त्रासद यथार्थ है और हो भी क्यों न, क्योंकि शताब्दियों का दर्द पूरे गुबार के साथ उनके पीछे-पीछे है। अकेलेपन से निकलकर निजी अनुभव के साथ पूरे समाज का दर्द यहाँ है। आधुनिक होने की प्रक्रिया में जातिप्रथा के कर्मकांडी स्वर का विध्वंस तो किया है, किन्तु स्त्री के प्रश्नों के साथ नयी द्वन्द्वात्मकता भी सामने आ रही है। इतना ही नहीं दलित साहित्कार अपने अतीत रचना के निर्माण में नये प्रतीकों एवं मिथकों का आविष्कार भी करते हुए दिखाई दे रहे हैं। 'जब मैंने अपनी जाति छिपायी' के यशस्वी रचनाकार बाबूराव बागुल ने लिखा है, **'इस देश में पैदा होने की गलती की है तो अब उसे सुधारो, या तो इसे त्याग दो, या युद्ध करो।'** दलित साहित्यकारों ने युद्ध का चयन किया और इसके लिए कला की परिभाषा भी कामू से चुन ली - 'सिर्फ युद्ध के बीच ही कलाकार को मिल सकती है शांति और कहीं नहीं।' युद्ध यहाँ एक मिथक के रूप में भी है, इसलिए शाश्वत है। सार्त्र के इस कथन को दलित लेखकों ने अपनी आत्मा में उतार लिया **'लेखन केवल लिखना ही नहीं, एक कार्यवाई है, और बुराई के खिलाफ मनुष्य के सतत संघर्ष में लेखन को सायास एक हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए। लेखक को यह बात समझनी चाहिए।'** (अर्जुन डांगले द्वारा सम्पादित संकलन पॉयजंड ब्रेड, दिल्ली ओरिएयण्ट लागमैन, 1982 से)।

इसीलिए मराठी सहित हिन्दी साहित्य में भी युद्ध एवं संघर्ष को स्थापित करने वाले उदाहरण दिखाई देते हैं। हिन्दी की दलित काव्यधारा ने इसी राश्ते पर चलते हुए महाभारत काल के दो दलित योद्धा प्रतीकों - एकलव्य और घटोत्कच - का आविकार किया तो झलकारी बाई के रूप में नये दलित शौर्य प्रतीक गढ़ा। झलकारी बाई पर लिखी अर्चना वर्मा की कविता है -

थी शक्ल भी उसकी रानी की, भेष बनाया रानी-सा।
ले तलवार, घोड़े पर सवार, रानी को बाहर पहुँचाया।
मुंड कटे और लाश बिछी, गोरों को ललकारी थी।
अंग्रेजों से लोहा लेने रण में कूदी झलकारी थी।
अचूक निशानेबाज थी वह, त्याग, शौर्य साहस का रूप।
पति शहीद हुए बेफिक्र रही, रण में फिर भी वह लड़ी खूब।
मनुवादी बरतें भेद भाव, कोरिन अछूत वह नारी थी।
.... रण में कूदी झलकारी थी।

लेकिन यह भी ध्यान रखने की चीज है कि युद्ध के साथ ही साथ यहाँ रचनात्मकता का तेवर भी है, किन्तु युद्ध से रचना की यात्रा चुनौतीपूर्ण थी, जिसे सम्भव बनाया आंबेडकर

ने और इसका श्रेय उनकी आत्मकथा है मी कसा झालो (मैं कैसे बना) और उनके इस गीत को भी-

हिन्दुओं को चाहिए थे वेद, इसलिए उन्होंने व्यास को
बुलाया जो सवर्ण नहीं थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक महाकाव्य, इसलिए उन्होंने
बाल्मीकि को बुलाया जो खुद अछूत थे।
हिन्दुओं को चाहिए था एक संविधान और उन्होंने
मुझे बुला भेजा।

इन पंक्तियों की भावना से संचालित दलित लेखक के लिए रचना के लिए पुख्ता जमीन मिल गयी।

स्पष्ट है कि दलित आन्दोलन की संभावनाएं हिन्दी में तीस के दशक में दिखाई देने लगी थी, जिसकी पृष्ठभूमि में बीस के दशक में कानपुर में चले आदि-हिन्दू आन्दोलन द्वारा पैदा हुई विद्रोह की भावना है। इस आन्दोलन का चरित्र कमोबेश पंजाब के तत्कालीन आदि-धर्म आन्दोलन, मद्रास के आदि-द्रविड़ आन्दोलन और महाराष्ट्र के सत्यशोधकों की मुहिम की तरह का ही था। इसके नेता अछूतानन्द और रामचरण दास थे। आदि हिन्दू आन्दोलन 1923 में स्वामी अछूतानन्द जी ने शुरू किया था, जिसमें आर्यसमाजी संस्कार भी है, किन्तु यह केवल धार्मिक आन्दोलन नहीं है, बल्कि धार्मिक आवरण में ही सही यह राजनैतिक चेतना से सम्पन्न अस्मितामूलक आन्दोलन भी है, भले ही अस्मिता का सन्दर्भ सीमित ही क्यों न हो। जब वे अछूतों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं -

सभ्य सबसे हिन्द के प्राचीन हैं हकदार हम
था बनाया शूद्र हमको
थे कभी सरदार हम।
अब नहीं है वह जमाना
जुल्म हरिहर मत सहो
जोड़ दो जंजीर जकड़े
क्यों गुलामी में रहो

(दलित दखल, पृष्ठ 174)

तो वे जहाँ एक ओर अतीत रचना की स्वाधीन कोशिश कर रहे थे, वहीं अछूत मानी जाने वाली जातियों में गौरवबोध के साथ ही मुक्ति की आकांक्षा जागृत कर रहे थे। 'आदि हिन्दू सभा' नाम से उन्होंने अछूतों का जो समूह निर्मित किया था, उसका उद्देश्य

Scanned with CamScanner

पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति ही था। 1927 में कानपुर में आयोजित सभा में उन्होंने कहा, 'भारत के हिन्दू मुसलमानों के साथ-साथ अछूतों को भी आजादी चाहिए। आजादी के सही हकदार अछूत हैं जिनके श्रम और शक्ति पर देश का उत्पादन तथा उत्थान निर्भर है जो धरती का सीना चीरकर अन्न उगाता है, दुःख की बात है, कि वह नंगा, भूखा, शोषित है, पशुओं से भी बदतर जिन्दगी जीने को मजबूर है। मुट्ठी भर सवर्ण हिन्दुओं ने उन्हें उनके श्रम के बदले गुलामी की बेड़ियाँ पहना रखी हैं। अतएव असली आजादी के हकदार तो अछूत ही हैं।'' (दलित दखल, पृष्ठ 174, मोहन सिंह वेसल का लेख)। स्वामी जी के ये शब्द जागरण एवं अस्मिता के चेतना से सम्पन्न हैं, भले ही 'दलित' शब्द यहाँ प्रयुक्त नहीं होने के कारण दलित साहित्य के भीतर इन्हें समेटने में संकोच हो, किन्तु आज के दलित साहित्य को स्वामी जी का ऋणी होना चाहिए। हिन्दू धर्म के प्रति आस्थावान होते हुए भी उनकी चेतना सनातनी नहीं है, बल्कि वे सनातन धर्म की रूढ़ियों पर आघात करने के साथ ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद एवं वर्णवादी सामंतवादियों से भी लड़ रहे थे। उनका यह पद महत्वपूर्ण है, जो मनुवादी सभ्यता पर कठोर आधार ही है -

मनु जी तुमने वर्ण बना दिए चार।
जा दिन तुमने वर्ण बनाये, न्यारे रंग बनाये क्यों ना ?
गोरे ब्राह्मण लाल क्षत्री बनिया पीले बनाये क्यों ना ?
शूद्र बनाते काले वर्ण के, पीछे को पैर लगाये क्यों ना ?
कैसे हो पहिचान पोप जी दो अक्षर डलवाये क्यों ना ?
पाँच तत्व तो सब में दीखे, ज्यो तत्व लगाये क्यों ना ?
वह सर्वज्ञ सर्व में व्यापक, उससे भी जुदे बनाये क्यों ना ?
पाँच तत्व गुण बराबर बढ़कर तत्व लगाये क्यों ना ?
एक चूक बड़ी भारी पड़ गयी न्यारेऊ मुल्क बसाये क्यों ना ?
लोहे के वर्तन पर पानी कंचन को दयौ डार।

इस छन्द के माध्यम से अछूतानन्द वर्णवादी सत्ताओं को न केवल नकारते हैं, बल्कि उससे संघर्ष करते हुए भी दिखाई देते हैं।

अछूतानन्द जी की कविताओं की ताकत यह है कि इसके भाव-भाषा सहज-सरल तो है ही किन्तु चेतना क्रान्तिधर्मी है। वे हीरा डोम की तरह बिनती नहीं करते, बल्कि दलित साहित्य के रूप में मान्यता प्राप्त कविताओं की तरह ही ये कविताएं भी आक्रोश एवं विद्रोह का सृजन करने वाली मुक्तिकामी कविताएं हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन कविताओं में आत्महीनता नहीं, बल्कि अस्मिता है। 'चेतावनी' गज़ल उल्लेखनीय है -

''पुरखे हमारे थे बादशाह, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
अब हिन्द में हम हैं तबाह, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
इतिहास में जो नामवर, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
थे सभ्यता में अग्रसर, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
आये थे आर्य यहाँ नये, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
छल-बल से वे मालिक भये, तुम्हें याद हो कि न याद हो,
यदि खून में कुछ जोश हो, ओ बेहोश कौमो, जो होश हो,
तुम क्यों पड़े खामोश हो, तुम्हें याद हो कि न याद हो।''

यहाँ जागरण का जो स्वर है, वह अस्मिता का एक जरूरी सन्दर्भ है।

'आदिवश का डंका' और 'अछूत पुकार' जैसी कविताएं लिखने वाले अछूतानन्द की कविताएं दलित कविता भले ही न कही जा सके, क्योंकि दलित शब्द की अपनी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है, किन्तु अछूतानन्द के साथ ही हीरा डोम की कविताएं दलित जागरण की कविताएं हैं। इन कविताओं में नफ़रत, घृणा, अपमान फैलाने वाली सभ्यता के प्रति दृष्टि यथार्थवादी एवं आलोचनात्मक है। वे प्रत्येक प्रकार के अंधविश्वासियों, कर्मकाण्डियों को कविता 'सवर्णो को चेतावनी' के माध्यम से जो सन्देश देते हैं, उसकी ध्वनि व्यापक है -

मैं अछूत हूँ छूत न मुझमें, फिर क्यों जग ठुकराता है।
छूने में भी पाप मानता, छाया से घबराता है।
मुझे देखकर नाक सिकोड़ता, दूर हटा वह जाता है।
हरिजन भी कहता है मुझको, हरि से विलग कराता है।

'इन नेताओं ने एक नयी संस्कृति की रचना पर बल दिया जिसमें 'आत्मानुभव' और उसके जरिये होने वाले 'आत्मज्ञान' को महत्वपूर्ण माना गया। यही 'आत्मानुभव' आगे चलकर अम्बेडकर की आधुनिकता का साझीदार होकर दलित साहित्य चेतना को क्रान्ति-धर्मा आयाम देता है। इसी समय प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' का युगान्तकारी महत्व स्वीकार करना चाहिए, किन्तु साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन एवं कांग्रेस की उपस्थिति के कारण यह चेतना नेपथ्य में चली गयी। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हिन्दी में जो कविता दिखाई दी वहाँ काव्यगत कौशल के साथ ही समानान्तर सौन्दर्य शास्त्र के निर्माण एवं अतीत रचना का प्रयास जो दिखाई देता है उसकी महत्ता की स्वीकृति के प्रश्न पर गुर्रम जाशुवा के ये कथन याद आते हैं, जो साहित्यिक सिपाहसालारों की उपेक्षा से पैदा हुआ था, 'मेरी कविता-सुन्दरी की विभा को देखकर जिसने प्रशंसा की, उसी ने जाति के बारे में पूछा और उठकर चला गया तो ऐसा लगा जैसे उसने मेरी छाती में छुरी भोंक दी

Scanned with CamScanner

हो। कैसी लज्जा की बात है ? ...... जो दो कौड़ी के नहीं हैं ऐसे ईर्ष्यालु काकों का झुण्ड कितना ही शोर मचाये, मुझे शारदा ने वरण किया वह मुझे नहीं छोड़ेगी। मेरी कविता की अमृतधारा से वह दस सागर बन जायेगी।' (सन्दर्भ, आधुनिकता के आईने में दलित, पृष्ठ 127)।

इसके बाद की विकास यात्रा पर नजर डालें तो कहा जा सकता है - हिन्दी दलित कविता में 60 से 80 के पहले गाँधीवादी एवं आर्यसमाजी माडलों के दायरे में मुक्ति की पहल चल रही थी, यहाँ अश्पृष्यता से मुक्ति की राहें तो भी, किन्तु वर्णाश्रम व्यवस्था का अस्वीकार नहीं था बल्कि इसी दायरे में रहकर हदय परिवर्तन की आस ज्यादा दिखाई देती है। इसी दौर में कुछ गैर दलित कवियों ने भी अछूतों को महिमामंडित करने वाली कविताएँ भी लिखी जैसे गया प्रसाद शुक्ल सनेही की यह कविता -

सेवक अगर अछूत न होते/कैसे आप अछूते रहते/
किसी तरह तो पूत न होते/सेवक अगर अछूत न होते।

इसी तरह सुभद्रा कुमारी चौहान की यह कविता उल्लेखनीय है -

मैं अछूत हूँ मन्दिर में आने का,
मुझको अधिकार नहीं है।
किन्तु देवता यह न समझना,/तुम पर मेरा प्यार नहीं है।।/
प्यार असीम अमिट है फिर भी, पास तुम्हारे आ न सकूँगी।/
यह अपनी छोटी-सी पूजा,/चरणों तक पहुँचा न सकूँगी।

किन्तु दलित को यहाँ मुक्ति नही दिखाई देती तो इसके पीछे सांस्कृतिक कारण है, जो ठीक ही है। इसी समय प्रकाश लखनवी, दुलारे लाल जाटव, विहारी लाल कलवार, भीखाराम आदि भी दलित चेतना की ऐसी कविताएं लिख रहे थे, जहाँ जाति-वर्गहीन लोकतंत्र की तलाश का समाजवादी स्वर सुनाई देने लगा था। प्रकाश लखनवी की यह कविता साम्यवादी सुर में है -

बाम्हनशाही ढोंग मिटाओ, अब तो भारत है आजाद।
साम्यवाद की बजे दुंदभी, वर्ण-जाति होवे बरबाद।।

आर्थिक-सामाजिक स्वाधीनता के साथ ही आजादी के यथार्थ को भी इन्होंने निर्भय होकर व्यक्त किया -

यह पन्द्रह अगस्त, आजादी का दिन है, पर किसकी ?
करतल-गत है, पूँजी, प्रभुता, शासन-सत्ता जिसकी।।

फिर भी हिन्दी दलित मुक्ति काव्य-चेतना में जिस क्रान्ति एवं संघर्ष की प्रतीक्षा थी, वह नवें दशक में दिखाई देनी शुरू हुई थी, जहाँ अम्बेडकरवाद एवं बुद्ध का पुनराविष्कार

कवियों ने किया है। इस दौर में कुछ ऐसे कवि भी थे जो भीमवंदना कर रहे थे। किन्तु इनकी वंदना में भावुकता है (लालचन्द राही, रणजीत सिंह आदि) इनके भावबोध में वह आक्रोश नहीं था, जो नवे दशक के कवियों भीमसेन, संतोष (शोषित की पुकार, 1983), सोहनपाल सुमनाक्षर (अंधा समाज और बहरे लोग, 1984), श्यौराज सिंह बेचैन (नयी फसल, 1989) और ओम प्रकाश बाल्मीकि 'सदियों का संताप, 1989) के यहाँ अपनी विकासयात्रा के साथ दिखाई देता है। बेचैन के यहाँ जनवादी चेतना का दबाव है (यहाँ दलित चेतना, शोषितजन की चेतना के रूप में है, किन्तु पहली बार हिन्दी कविता में पूर्णरूप से दलित चेतना जहाँ दिखाई दी वह है - 'सदियों का संताप' यह पूरी तरह भावुकता से मुक्त ऐसी कविताई है, जहाँ वैज्ञानिकता, ऐतिहासिक विवेक एवं तार्किक दृष्टि है। 'इन कविताओं ने मुख्यधारा की कविता पर हथौड़े बजा दिये।' कंवल भारती। पहली कविता 'ठाकुर का कुआँ है, जिसका शीर्षक ही बहुत मर्मबेधी है - चूल्हा मिट्टी का/मिट्टी तालाब की/तालाब ठाकुर का/भूख रोटी की/रोटी बाजरे की/बाजरा खेत का/खेत ठाकुर का।/कुँआ ठाकुर का/पानी ठाकुर का/खेत-खलिहान ठाकुर के/गली मुहल्ले ठाकुर के/फिर अपना क्या/गाँव? शहर? देश?।

इसी तरह के प्रश्न अम्बेडकर ने भी 1930 में उठाया था। बाल्मीकि जी के यहाँ पूरा का पूरा युग, यातना की सदियों पुरानी त्रासदी चीख उठी है, किन्तु इसमें दर्द भी है और संघर्ष भी, विस्थापन की यातना है, तो नये निर्माण का विजन भी, केवल प्रश्न नहीं है, बल्कि सर्जना भी है -

मैंने दुःख झेले/सहे कष्ट पीढ़ी-दर-पीढ़ी इतने/फिर भी देख नहीं पाये तुम
मेरे उत्पीड़न को/इसीलिए युग समूचा/लगता है पाखण्डी मुझे।

इस कविता का नया युग 20वीं सदी के अन्तिम दशक की दलित कविता है।

इतना ही नहीं इन्होंने लेखनी से कुदाल का काम लिया है -

पृथ्वी की समूची ऊर्जा/रक्त शिराओं में समेटकर भी/
मैं अपाहिज था/क्योंकि,/जो कुदाल तुमने दी थी/
मेरे हाथ में/वह मिट्टी को सोना तो बना सकती थी/
किन्तु, उठ नहीं सकती थी/तुम्हारे विरुद्ध ?

इन कविता का अगला चरण 20वीं सदी का अन्तिम दशक है, जहाँ अम्बेडकर एवं बुद्ध का दैवीकरण नहीं है, बल्कि विद्रोह एवं प्रतिरोध की ऐसी जमीन है जो क्रान्तिकारी बदलाव के लिए प्रतिबद्ध है। यहाँ कवि के सामने भूमण्डलीकरण का घिनौना यथार्थ भी है तो दलित मुक्ति के लिए बहुआयामी सृजनशीलता। सदियों के संताप का लेखक कहने लगा - वस्स! बहुत हो चुका'। जनवादी बेचैन भी अपने को 'क्रौंच' कहने लगे -

आदि कविता

Scanned with CamScanner

क्रौंच का वध देखकर पैदा हुई थी
मैं परन्तु आदि कवि के वशजों में से नहीं हूँ।
क्रौंच हूँ मैं।

तथा ओमप्रकाश बाल्मीकि एवं मोहनदास नैमिषराय जैसे कवि शब्द की सत्ता के पीछे छिपी क्रूर सत्ताओं को भी पहचानने की शक्ति अर्जित कर ली। मोहनदास नैमिषराय की 'शब्द' कविता के संकेत महत्वपूर्ण हैं - शब्द ही तो थे, जो मनुस्मृति में लिखे गये रामराज चला गया/पर शम्बूक की चीख अभी बाकी है। शम्बूक की चीख हो या कर्ण की दानवीरता दोनों की मिथकीय चेतना ने दलित कविता का कायान्तरण कर दिया है।

किन्तु बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में ओम प्रकाश बाल्मीकि, मोहनदास नैमिषराय, सी0वी0 भारती, जयन्त परमार, सूरन पाल चौहान, मलखान सिंह, सतनाम सिंह, कँवल भारती, श्योराज सिंह बेचैन ने जिस दलित कविता की आधारशिला रखी, उसके सन्दर्भ बिल्कुल ताजे हैं, वैचारिक प्रसंग भी स्पष्ट है और अपना लक्ष्य भी पता है। अब दलित कवि सीधे-सीधे कहने लगा - हमारी दासता का सफर/तुम्हारे जन्म से शुरू होता है/और इसका अन्त भी तुम्हारे अन्त के साथ होगा।/सुनो ब्राह्मण! आदि का योगदान उल्लेखनीय ही नहीं दलित जागरण एवं मुक्ति सन्दर्भ का अनिवार्य पहलू भी है।

इन दलित कवियों के काव्य-संसार का मूल्यांकन करें तो यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि दलित साहित्य की रीढ़ है उसकी उर्जा, ओजस्विता और निर्भीकता, जो उसे ज्योतिबा फुले और अम्बेडकर के चिन्तन और विचारों से मिली है। इसे नवचेतना का ऐसा साहित्य माना जाता है, जिसकी अपनी अलग धारा है, अपने मूल्य और प्रतिमान हैं, यह ऐसे प्रतिमान हैं जो परम्परागत साहित्य से अलग है। 'यह साहित्य दलितों के सामाजिक, राजनीतिक सभी प्रकार के अपमान, शोषण, अन्याय के प्रति विद्रोह की चेतना से लैस ऐसा साहित्य है जो मुक्तिधर्मी है। इसीलिए जय प्रकाश कर्दम यह मानते हैं कि 'दलित साहित्य उन प्रस्थापित मूल्यों, आस्थाओं, विश्वासों और मान्यताओं के खिलाफ एक मुहिम है जो मनुष्य के बीच विषमता और विभेद पैदा करते हैं, जाति-पाति, छुआ-छूत और ऊँच-नीच को बढ़ावा देते हैं। जो व्यक्ति को वैज्ञानिकता से दूर रखते हैं तथा समाज की प्रगति और उसके विकास में बाधक है।' (दलित दखल, पृष्ठ 144) दलित साहित्य में जिस पीड़ा, अपमान, उपेक्षा की यातनामयी अभिव्यक्ति है, वह सदियों का संताप है, इसीलिए इसकी अभिव्यक्ति में कहीं-कहीं शोर ज्यादा है जो स्वाभाविक ही है। इस शोर के पीछे के सामाजिक, सांस्कृतिक कारणों की परख जरूरी है जिसे ओम प्रकाश बाल्मीकि अपनी कविता में कुछ इस अंदाज में कहते हैं-

मैं देख रहा हूँ वह सब

जिसे देखना जुर्म है
फिर भी करता हूँ गुस्ताखी
चाहो तो मुझे भी मार डालो
वैसे ही जैसे मार डाला एक प्यासे को
जिसने कोशिश की थी
एक अंजुली जल पीने की
उस तालाब का पानी
जिसे पी सकते हैं कुत्ते-बिल्ली
गाय - भैंसे
नहीं पी सकता एक दलित
दलित होना अपराध है उनके लिए
जिन्हें गर्व है संस्कृति पर
वह उतना ही बड़ा सच है
जितना उसे नकारते हैं।

(कोई खतरा नहीं, बसुधा, पृष्ठ 131)

यहाँ कविता मनोरंजनकारी नहीं हो सकती, बल्कि चोट करना उसका स्वभाव और प्रकृति है और उस पूरी सभ्यता को शर्मशार करना उसका धर्म है, जिसने शोषण का शास्त्र रचकर जुल्म की इबारत लिखी थी। इसीलिए यह नये शास्त्र की प्रस्तावना लिखने वाली ऐसी कविता है, जो यथार्थ के कोख से पैदा हुई है। सी0वी0 भारती का यह अंदाज विलक्षण है, मार्मिक भी -

तुम फैलाते रहे गन्दगी/ओर मैं करता रहा सफाई/चलाता रहा अपनी झाड़ू हम फैलाते रहे घृणा/और मैं बाँटता रहा प्यार/ मैंने उठा ली है अपनी कलम/झाड़ू के बदले करेंगे साफ तुम्हारी गन्दगी/बचायेंगें हम टूटी एकता को।'

सम्पर्क : युवा आलोचक, सम्पादक, डॉ0 दीपक प्रकाश त्यागी, हिन्दी विभाग, दी0द0उ0गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर में एसोसिएट प्रोफेसर हैं।
ई-मेल :dpt_ddu@yahoo.com
मोबाइल : 09415824589

Scanned with CamScanner

ISSN 2229-3876

प्रस्थान

रचना-आलोचना की पत्रिका

संपादक
दीपक प्रकाश त्यागी

प्रबंध संपादक
राजेन्द्र प्रसाद चतुर्वेदी

Scanned with CamScanner